THE ECONOMIC TIMES

Date: 14-03-19

How to Get on With the Job

India can meet the unemployment challenge only if it adapts to the new reality of a digital economy

Hema Ramakrishnan

Jobs — or, rather, joblessness — is this election season's hot potato. So far, the debate has focused largely on aggregate numbers, rather than change in sectoral figures or the influence of information technology (IT) on the changing profile of jobs in the country. This is surprising, especially when you consider the findings of a March 2018 study that shows a steady drop in manual jobs and growth in cognitive jobs over the last two-and-a-half decades in India.

The Indian Council for Research on International Economic Relations (ICRIER) working paper, 'Changing Task Contents of Jobs in India: Implications and Way Forward' by Pankaj Vashisht and Jay Dev Dubey (goo.gl/FQwfK1), attributes the ongoing digital revolution to the advancement of 'non-routine cognitive' (analytical) tasks. India cannot be oblivious to the global debate on the impact of automation and artificial intelligence (AI) on job growth. Nor can it brush aside the importance of upgrading skills in tune with the demands of the market.

Digital interventions could mean the need to redeploy or re-skill an estimated 40-45 million workers, and an opportunity to create about 20 million new tech-enabled jobs. India can succeed only if it adapts to the new reality of riding the tiger of the digital economy, focusing on quality education and imparting better levels of skills.

Without doubt, Indian IT has progressed steadily over the last three decades or so, starting with a rise in exports, fuelling job growth. If the 1980s saw the country take baby steps, the 1990s witnessed new confidence in India's computer and software prowess. Large scale IT adoption in the banking sector was a visible sign of the readiness to impact a critical sector of the economy to digitisation.

Even as the hardware industry missed the bus, there was no looking back for the Indian software industry. Aided by de-licensing and a host of incentives, the country emerged as a leader in outsourcing. First-generation entrepreneurs forayed into the software sector that drew a huge talent pool. Supply was plenty, given that many in the middleclasses were attracted to the industry. The cost-arbitrage helped entrepreneurs tap global opportunities to grow their business and create wealth. Private Private engineering colleges mushroomed to meet the sector's demand. Industry adapted as well to absorb graduates from all disciplines.

Looking for an Opening

Jobs grew as the industry grew. And that was steady for nearly two decades. But technological changes, new automation and protectionism have led to the slowing down of the growth of jobs, with nominal additions over the last few years, compared to the boom days. Thankfully, the IT industry has managed to ward off threats of large-scale layoffs by inducting a young workforce that can handle new technologies

and restore growth rates of about 8-12% — even as this is a fall from the 20-40% growth during the peak years. Yet, net job addition in the sector has dropped over the last five years — to an estimated 1.05 lakh in 2017-18 from 3.01 lakh in 2013-14. Layers of middle management have been rendered redundant. This is forcing Indian IT companies to change their business models.

Digital transformation, enabled by cloud computing, data analytics, the Internet of Things (IoT) and more, offers a gold mine. A recent government report, 'India's Trillion-Dollar Digital Opportunity' (goo.gl/uP3Bcx) projects an opportunity for a $1 trillion digital economy by 2025 (from the current $200 billion), and along with it, 65 million jobs. It also favours a 'demand-pull' model of skilling, in which aspirants seek out the skills in demand and get trained. Surely, Indian IT companies wil get a whole lot of new work in a tech-driven future. That calls for new skills and new ways of doing things.

The long-term interests of industry hinge on the quality of talent produced in the country. Reforming education should begin with schools that must teach children to learn. Radical steps must be taken to improve the quality of our universities across disciplines to make them employable.

Every sector will be affected by the power of digital transformation, and must be prepared. When banks adopted IT in the 1990s, it led to the emergence of banking correspondents. Agricultural correspondents may emerge to support farmers for advisories on soil health, sowing and choice of crops, leveraging IT. Increasingly, healthcare services will also be delivered through digital devices for diagnostics at remote places and advisories by doctors through telemedicine, supported by AI. So, GoI's focus must be to improve digital infrastructure and design policy that will make use of spectrum in an efficient way.

Update, Upgrade, Upscale

Startups are emerging as the bright spot and proving to be the new avenue for the growth of the economy and jobs in general, and for the IT and IT-enabled sectors, in particular. Next only to the US and China in attracting investment, India seems to be in a pole position. Startups have also given a push to the 'gig economy', with people taking up contractual, part-time and online jobs.

What is needed in the jobs debate/discussion is to slice and dice data — sector-wise — to assess which sector's performance has not been matched by growth in employment, and why. India should also go in for dynamic and nuanced updates to get jobs and skills data frequently across sectors. And reveal these figures to future voters.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 14-03-19

सरकारी बैंकों में पूंजी निवेश और उनकी निरंतर नाकामी

देवाशिष बसु

मुख्य आर्थिक सलाहकार (सीईए) कृष्णमूर्ति सुब्रमण्यन ने कुछ दिन पहले कहा कि सरकारी क्षेत्रों के बैंकों के संचालन में सुधार के लिए पी जे नायक समिति की अनुशंसाओं को लागू करना महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा कि जब तक इन सुधारों को संस्थागत रूप प्रदान नहीं किया जाता है, इस क्षेत्र में जोखिम बरकरार रहेगा। वह अपनी बात विनम्रतापूर्वक रख रहे थे।

मौजूदा भाजपानीत सरकार ने वादा किया था कि वह संचालन को बेहतर बनाएगी और जवाबदेही सुनिश्चित करेगी। इस सरकार के पांच वर्ष के शासन के बाद अब हम कह सकते हैं कि बैंकों के चेयरमैनों की अतीत की या हालिया गड़बडिय़ों, भारतीय रिजर्व बैंक की बैंकिंग निगरानी शाखा या वित्त मंत्रालय की निरंतर मजबूत होती बाबूशाही को लेकर कोई जवाबदेही सुनिश्चित करने का काम नहीं हुआ है। यही कारण है कि ऋण देने में होने वाले भ्रष्टाचार, बड़े पैमाने पर होने वाले नुकसान और बैंकों के पुनर्पूंजीकरण आदि को लेकर कुछ खास नहीं हो सका है। इस बीच भ्रष्ट और नाकारा बैंकों में जनता की अरबों रुपये की राशि निरंतर इस तंत्र को सुचारु रूप से चलाते रहने के लिए इस्तेमाल की जा रही है। देश की आबादी का तकरीबन 25 फीसदी अत्यधिक गरीबी में जीवन बिता रहा है।

सुब्रमण्यन के पहले जो भी सीईए रहे, उनमें हमें इस कदर साफदिली देखने को नहीं मिली। सुब्रमण्यन ने यह भी कहा, 'केंद्र सरकार ने यह राजनीतिक इच्छाशक्ति दिखाई है कि सरकारी बैंक स्वायत्त ढंग से काम कर सकें और उनके वाणिज्यिक निर्णयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। परंतु हमें एक कदम पीछे हटकर हकीकत का आकलन भी करना चाहिए। यह सब राजनीतिक इच्छाशक्ति से संभव हुआ लेकिन अभी इसे संस्थागत रूप नहीं प्रदान किया जा सका है।' कोई भी समझदार व्यक्ति जिसे इतिहास की जानकारी हो वह यह जानता है कि अगर किसी चीज को संस्थागत स्वरूप नहीं दिया जाता है तो उसका मोल भी कम होता है। हालांकि सुब्रमण्यन ने एकदम सही मुद्दा उठाया लेकिन वह भी तमाम अन्य शुभेच्छुओं की तरह सरकारी बैंकों से जुड़ा एक अहम मुद्दा उठाने से चूक गए।

सरकारी बैंकों में तीन तरह का भ्रष्टाचार देखने को मिला है। कुटिल कारोबारियों को भारी भरकम ऋण देने का मामला इनमें से एक है और यह उच्चतम स्तर पर राजनीतिक हस्तक्षेप से संभव होता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी इसे ही फोन बैंकिंग कहते हैं। दूसरा है दिवालिया कंपनियों को लेकर नियामकों, रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय के बीच सहानुभूति का मामला। इन्होंने फंसे हुए कर्ज के निपटान की प्रक्रिया में नियमित रूप से समझौते किए। आरबीआई की सीडीआर, एसडीआर, एस4आर, सीडीआर2 और 5/25 जैसी योजनाएं फंसे हुए कर्ज को निरंतर जारी रखने का जरिया भर थीं।

इससे पहले कि आप यह कहना शुरू कर दें कि फंसे हुए कर्ज के निस्तारण की प्रक्रिया तय हो चुकी है, यह याद रखें कि ऋणशोधन अक्षमता एवं दिवालिया संहिता को लागू करने के साथ-साथ 'प्रॉम्प्ट करेक्टिव एक्शन' की परिभाषा में बदलाव, बैंकों द्वारा किसी ऋण को डिफॉल्ट घोषित करने के समय में बदलाव से लेकर राष्ट्रीय कंपनी लॉ पंचाट द्वारा कई अपवाद आदेशों तक अनेक परिवर्तन भी किए गए हैं। सरकारी बैंकों से दिए जाने वाले ऋण में तीसरी समस्या है शाखाओं से लेकर क्षेत्रीय कार्यालयों तक में छोटे मोटे ऋण जारी करने से लेकर उनको बट्टे खाते में डालने तक में होने वाला भ्रष्टाचार। मोदी सरकार के कार्यकाल में राजनीतिक हस्तक्षेप में जो कमी आई है वह फंसे हुए कर्ज के संबंध में एक बड़ा कदम है लेकिन उससे समस्या हल नहीं होने वाली। बल्कि निरंतर नई पूंजी डालने से समस्या आगे भी जारी रहेगी।

आगे की राह

सरकारी बैंकों को लेकर क्या किया जा सकता है, जबकि हम यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि अकेले पूंजी डालने से इसकी समस्या दूर नहीं होने वाली। एक नजर डालते हैं सुब्रमण्यन के नायक समिति की रिपोर्ट की अनुशंसाओं को लागू करने संबंधी बयान पर। समिति ने अपनी रिपोर्ट मई 2014 में सौंपी थी। उसी वक्त केंद्र में नरेंद्र मोदी की सरकार आई थी जिसका नारा था, 'न्यूनतम सरकार अधिकतम शासन।' सरकार का यह भी कहना था कि 'कारोबारी जगत में सरकार के हस्तक्षेप की कोई वजह नहीं।'

नायक समिति ने सरकारी और निजी बैंकों के सफल बैंकरों समेत तमाम विशेषज्ञों से बात की। नायक स्वयं वित्त मंत्रालय में पूर्व संयुक्त सचिव और ऐक्सिस बैंक के प्रमुख रह चुके थे। इसे सरकारी बैंक सुधार के सबसे बेहतरीन खाकों में से एक माना जाता है। समिति ने सीधे सरकारी बैंकों की समस्याओं की जड़ तक पहुंचने का काम किया। उसने कहा, 'सरकारी बैंकों के संचालन की कमी का मसला कई बाहरी बाधाओं की वजह से भी है। इनमें वित्त मंत्रालय और आरबीआई का दोहरा नियमन, बोर्ड का संविधान, निजी क्षेत्र के बैंकों में क्षतिपूर्ति में व्यापक अंतर, सीवीसी और सीबीआई द्वारा बाहर से सतर्कता प्रवर्तन आदि शामिल हैं।'

समिति के मुताबिक समस्या का हल भी एकदम आसान था, 'अगर सरकार इन बैंकों में अपनी हिस्सेदारी 50 फीसदी से कम करती है और साथ ही कुछ अन्य कार्यकारी उपाय अपनाए जाते हैं तो ये तमाम बाहरी बाधाएं गायब हो जाएंगी। यह सरकार के लिए बेहतर होगा क्योंकि वह फिर भी अहम हिस्सेदारी रखेगी और इससे बैंकों के लिए यह माहौल तैयार होगा कि वे कहीं अधिक प्रतिस्पर्धी ढंग से कारोबार कर सकें। यह एक आधारभूत विडंबना है कि फिलहाल सरकार अपने ही निवेश वाले बैंकों को एक तरह से नुकसान पहुंचा रही है।'

यह अजीब बात है कि ऐसी सरकार जो साहस, संचालन, समझ और लचीलेपन के मानकों पर गर्व करती है, उसने ठीक पिछली सरकारों की तर्ज पर सरकारी बैंकों की समस्या खत्म करने की दिशा में आधारभूत कदम उठाने से दूरी बनाए रखी है। यानी भविष्य की सरकारों के अधीन भी सरकारी बैंक भ्रष्टाचार से ग्रस्त ही रहेंगे, राजनेता तब भी उन्हें प्रभावित करेंगे, विकृत पूंजीवाद हावी रहेगा और नियामक विफल होते रहेंगे। आश्चर्य नहीं कि उन्हें बार-बार पूंजी की जरूरत पड़ती रहेगी। दूसरी ओर ऋण की तेजी से बदलती दुनिया में उच्च परिचालन लागत और कमजोर ऋण निर्धारण तथा ऋण की कमजोर निगरानी सरकारी बैंकों की समस्या बने रहेंगे। ये बैंक समय के साथ कम से कम प्रासंगिक होते जाएंगे।

दैनिक जागरण

Date: 14-03-19

आधी आबादी को मिले पूरा सियासी हक

ममता बनर्जी व नवीन पटनायक भले ही आम चुनाव में महिलाओं को ज्यादा टिकट दे रहे हों, पर अन्य दल अब भी उदासीन हैं।

आरती जेरथ , (लेखिका राजनीतिक विश्लेषक हैं)

संसद में महिलाओं के समुचित प्रतिनिधित्व जैसे अहम मुद्दे पर हाल ही में दो प्रांत्रीय क्षत्रपों ओडिशा के मुख्यमंत्री नवीन पटनायक तथा पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने कदम आगे बढ़ाए हैं। नवीन पटनायक ने जहां अपनी पार्टी बीजद से लोकसभा चुनाव के लिए 33 फीसदी महिलाओं को टिकट देने की घोषणा की, वहीं तृणमूल कांग्रेस की सुप्रीमो ममता बनर्जी ने थोड़ा और आगे बढ़ते हुए 41 फीसदी सीटों पर महिला प्रत्याशी को उतारने का एलान किया। साफ है कि इन दोनों ने बदलते वक्त के मिजाज को भांप लिया। आज महिलाएं एक अहम मतदाता वर्ग हैं और उनकी आकांक्षाओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। चुनाव-दर-चुनाव मतदान केंद्र के बाहर लगी कतारों में हम महिलाओं की बढ़ती मौजूदगी को साफ देख सकते हैं, जो अपने सशक्तीकरण के लिए ललक रही हैं। लंबे अरसे तक राजनीतिक पार्टियां महज कुछ ग्राम सोना, प्रेशर कुकर, टीवी, साड़ी या गैस चूल्हा आदि देने के नाम पर उन्हें भरमाती रही हैं। लेकिन अब समय आ गया है कि उन्हें इस तरह के झुनझुनों से बहलाना बंद किया जाए और शीर्ष पर नीति-निर्धारण प्रक्रिया में उनकी भागीदारी बढ़ाई जाए। हमारी संसद और विधानसभाओं में महिलाओं को प्रतिनिधित्व बढ़े।

हम देश में वयस्क मताधिकार के तकरीबन सात दशक बाद राज्य-तंत्र में आए व्यापक बदलाव पर गौर करें। पहले चुनावों में महिलाएं हाशिए पर रहते हुए महज मूक प्रेक्षक हुआ करती थीं। लेकिन धीरे-धीरे मतदान में उनकी भागीदारी बढ़ी। हालांकि आज भी महिलाओं के मुकाबले पुरुष ज्यादा मतदान करते हैं, लेकिन महिला मतदाताओं के प्रतिशत में ज्यादा उछाल आया है। वर्ष 1962 में जहां महिला मतदाता महज 46.63 फीसदी थीं, वहीं 2014 में यह आंकड़ा बढ़कर 65.63 तक पहुंच गया। वर्ष 1962 में जहां पुरुष-महिला मतदाता के बीच का अंतर 16.7 फीसदी था, वह 2014 में सिमटते हुए महज 1.8 फीसदी रह गया। देश के 29 में से 16 राज्यों में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं ने ज्यादा मतदान किया।

अब राजनीति में उनके प्रतिनिधित्व पर गौर करें। वर्ष 1993 में पारित 73वें संविधान संशोधन ने यह तो सुनिश्चित कर दिया कि पंचायतों व अन्य स्थानीय निकायों में 33 फीसदी सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगी, लेकिन राज्य विधानसभाओं और संसद में उनके लिए ऐसा कोई कोटा नहीं है। इसका नतीजा यह है कि राजनीतिक ढांचे के उच्च सोपानों में उनकी संख्या आज भी काफी कम है। वर्ष 2009 में पहली बार लोकसभा में महिला सदस्यों की संख्या ने 10 फीसदी का आंकड़ा पार किया। मौजूदा लोकसभा में यह मामूली रूप से बढ़कर 12.15 फीसदी तक पहुंचा। एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स (एडीआर) ने पाया कि राजस्थान और बिहार की विधानसभाओं में महिलाओं का प्रतिशत सबसे ज्यादा है। लेकिन फिर भी यह आंकड़ा 14 फीसदी के आसपास ही है, जो हास्यास्पद है।

इन दशकों में मतदाता के रूप में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी और संसद जैसे वृहद-स्तरीय नीति-निर्धारक निकायों और यहां तक कि राजनीतिक दलों के भीतर भी उनके कम प्रतिनिधित्व के बीच का यह अंतर अरुचिकर लगता है। कांग्रेस और भाजपा दोनों ही प्रमुख राष्ट्रीय दल सांगठनिक पदों पर और ज्यादा महिलाओं को लाने का वादा करते रहे हैं, लेकिन कोई भी अपनी बात पर खरा नहीं उतरा। अब जरा महिलाओं के न्यून राजनीतिक प्रतिनिधित्व की उनके राजनीतिक

प्रतिनिधि के तौर पर प्रदर्शन से तुलना करें। युनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी वर्ल्ड इंस्टिट्यूट फॉर डेवलपमेंट इकोनॉमिक रिसर्च द्वारा किए गए एक अध्ययन के मुताबिक महिलाओं के प्रतिनिधित्व वाले विधानसभा क्षेत्रों की आर्थिक विकास दर पुरुष प्रतिनिधि वाले क्षेत्रों से ज्यादा पाई गई। दो दशकों तक चले इस अध्ययन में 4,265 विधानसभा क्षेत्रों को शामिल किया गया। और देखिए, इससे क्या निष्कर्ष निकलकर सामने आया।

महिलाएं न सिर्फ अपने क्षेत्र के आर्थिक प्रदर्शन को सालाना 1.8 फीसदी तक सुधारती हैं, बल्कि वे अधोसंरचात्मक परियोजनाओं को भी समय पर पूरा करती हैं। उनके आपराधिक मामलों और भ्रष्टाचार में लिप्त होने की आशंका भी पुरुषों के मुकाबले कम होती है। वे अपने पुरुष साथियों के मुकाबले अपेक्षाकृत युवा व उत्साही भी होती हैं। क्या ये विधायक/सांसद के रूप में उनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिहाज से बेहतरीन कारण नहीं? यूएन के अध्ययन में यह भी पाया गया कि राजनीतिक महिला प्रतिनिधि स्वास्थ्य, स्वच्छता, शिक्षा, स्वच्छ पेयजल और महिला सुरक्षा जैसे मुद्दों के प्रति अपने पुरुष साथियों के मुकाबले ज्यादा संवेदनशील व सक्रिय होती हैं। मसलन, एक अध्ययन में पाया गया कि पुरुष नेतृत्व वाली पंचायतों के मुकाबले महिला-नीत पंचायतों ने अपने गांवों को 62 फीसदी अधिक स्वच्छ पेयजल परियोजनाओं की सौगात दी।

दुर्भाग्य से, राजनीति आज इतनी प्रतिस्पर्द्धी हो गई है कि पार्टियां प्रत्याशियों की बाकी खूबियों के मुकाबले उसकी जीतने की क्षमता को ही तरजीह देती हैं। और प्रत्याशी की यह जीतने की क्षमता काफी हद तक धनबल और बाहुबल पर निर्भर करती है, जहां महिलाएं कमजोर पड़ जाती हैं और प्रत्याशी के अंतिम चयन की बारी आने पर पिछड़ जाती हैं। यह भी दिलचस्प है कि नवीन पटनायक ने लोकसभा चुनाव के लिए तो महिलाओं को 33 फीसदी टिकट देने की घोषणा की, लेकिन साथ-साथ हो रहे विधानसभा चुनाव के लिए ऐसा करने से हिचक गए। संभवत: यहां जीतने की क्षमता वाली बात उनके जेहन में रही हो।

पटनायक के आलोचक यह भी कह रहे हैं कि उन्होंने अपने अलोकप्रिय सांसदों के टिकट काटने के लिए यह महिला कार्ड खेला है। लेकिन फिर भी उनके इस दांव में निहित संदेश को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। उनका यह कदम चुनावों में महिलाओं की बढ़ती उत्साही भागीदारी के साथ राजनीति में महिलाओं की बढ़ती महत्ता की स्वीकार्यता है। बहरहाल, नवीन पटनायक और ममता बनर्जी के इस कदम पर अन्य दलों की प्रतिक्रिया गौरतलब है। कांग्रेस समेत ज्यादातर दल इसके प्रति उदासीन हैं। भाजपा ने तो पटनायक की इसलिए आलोचना की कि उन्होंने विधानसभा चुनावों के लिए भी ऐसा क्यों नहीं किया। प्रमुख राष्ट्रीय दलों का यह रवैया अजीब है। महिला आरक्षण विधेयक 1996 से लेकर अब तक संसद से पारित होने की बाट जोह रहा है। आरक्षण भले ही सर्वश्रेष्ठ कदम न हो, लेकिन यदि आधी आबादी की आंकाक्षाओं की पूर्ति के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व में यह लैंगिक बराबरी ला सके तो यह अच्छी बात होगी। इस लिहाज से कहना होगा कि महिला आरक्षण विधेयक के पारित होने का समय भी अब आ गया है।

Secrets are not sacred

Laws like Official Secrets Act conflate the interests of particular parties, government with the greater good . They must be contested.

Sanjay Srivastava , [The writer is a sociologist.]

The greatest failing of Indian public life over the past 70 years is the manner in which the state and forms of government have become identified with the life of the people. We have come to believe that state and society are the same thing and that pronouncements about the public good that emanate from organs of the state summarise ideal citizenship. This is not actually nationalism or patriotism. It is statism and it has had (and continues to have) very significant consequences for public welfare and our inability to differentiate between the interests of a few from that of the many.

Public welfare is best served through the ability of the citizenry to constantly redefine the meaning of the term and to rescue it from the dead reason of legal and civic bureaucracies. Economic welfare, social reform, public justice and individual liberty are topics that are far too important to be left to statist thinking whose raison d'etre is the consolidation of power with those who already have it. The kinds of laws we have — and the manner in which they are used — provide a good indication of the simplistic conflation between the interests of the state and those of public welfare.

The Official Secrets Act of 1923 (OSA), even though its powers have been curtailed by past court judgments, must be one of the most egregious instances of a law that infantilises common citizens through the notion that they should not question the idea of the "secret" itself. The secret is put forward as a sacred idea that protects us from evil, and the state is the unquestionably best judge of what is good and evil. Secrets as a method of governance exist in societies marked by unquestioning faith. The OSA, a left-over from the despotism of the colonial era, was intended to protect the empire from its enemies but is now a key tool for silencing a questioning citizenry. This law has remained on the book irrespective of the political party in power, reinforcing the parent-child relationship between the state and its subjects.

Why should we not ask what is good for us and why the state should not be open to informed scrutiny? Are politicians the only group equipped to understand what is good for the nation? And, is national life so incredibly fragile as to be splintered into shards of uncertainty by debates over how "threats to national interests" come to be defined?

A close cousin of the OSA — in terms of the inability to distinguish colonial strategies from those required for a free society — is the provision of Indian Penal Code (IPC) that covers "sedition". Section 124-A of the IPC notes that "Whoever, by words, either spoken or written, or by signs, or by visible representation, or otherwise, brings or attempts to bring into hatred or contempt, or excites or attempts to excite disaffection towards the Government established by law in India" is liable to be punished with life imprisonment. A wide variety of acts may fall foul of this law, including sloganeering by students, not supporting the Indian cricket team in an India-Pakistan match and questioning political strategies that are built on religious divisiveness. In effect, it is a law open to both individual idiosyncrasy as well as party-political vengefulness.

In its 2018 report on sedition, the Law Commission of India suggested that a "healthy debate" on the topic may open it up to more nuanced thinking on its meaning in contemporary India. What might be

needed, in addition, is a vigorous debate on the nature of contemporary Indian nationalism, the propagation of unquestioning faith in the state and the spread of these ideas through the most powerful of all methods of dissemination: Popular culture. The sacredness of secrets and the normalisation of "sedition", though enshrined through archaic legal provisions, have their most powerful impact through everyday repetitions in a variety of media, including advertising. An attention to laws needs to be supplemented by attention to the everyday grounds of belief and behaviour upon which laws stand.

The broader discussion we need to have concerns the nature of public perceptions regarding nationalism, patriotism and our relationship with the state. This is irrespective of the party in power. Support for a change in laws comes from a change in the public mood. The debates we need to have are of the following kind. First, if we allow unlimited scope for the idea that national welfare requires the absolute quarantining of certain forms of state activity from public scrutiny — and that the state is the final arbiter of national welfare — then, is it even possible to recognise that the state is itself formed out of specific actors with short-term goals that may have little to do with collective benefit? Political parties form the state. The idea of the state needs to be differentiated from the goals of those who run it.

Second, what is frequently defined as sedition is frequently a way of rethinking the meaning of nationalism. The colonial antecedents of penal provisions for seditious activity derive precisely from the fright and horror occasioned by this imagination. So-called seditious acts are valuable attempts to unfasten the straight-jacket into which the idea of nationalism has been confined. Why should we not practice the nationalism of anti-casteism, religious diversity and human rights? A nation is not much of a community if it has no capacity for introspection. It then becomes a spectre.

To think of the nation in these ways, however, requires that we do not subsume national life — that is, the life of the people — into that of the state, not imagine the goals of political parties to be the same as those of the state and not allow ourselves to be forever treated as helpless infants who are unable to think for themselves. The overweening state is the real danger to national welfare and requires recalcitrance as civic duty.

THE HINDU

Date: 13-03-19

To serve the governed

The Official Secrets Act has no place in a democracy, as the Goswami Commission had suggested in the late 1970s

Fali S. Nariman is an eminent jurist

The constitutional freedom to use and publicise information is directly affected by the provisions of the Official Secrets Act, 1923, which as with most of British India enactments followed the Official Secrets Act, 1920, passed by the British Parliament. It was strict enough then but after Independence in 'free India' we amended it and made it stricter in 1967, widening the scope of Section 5 ("Wrongful communication.

etc., of information") and enlarging the scope of Section 8 ("Duty of giving information as to commission of offences").

Often misused

Whenever I think about the Official Secrets Act, 1923, I recall a scene from the son et lumière (sound and light show) at the Red Fort enacted almost every evening where 100 years of Indian history is brilliantly encapsulated in a one-hour show: in it the Emperor Aurangzeb (who reigned for 60 years) asks his courtiers, "What is this noise, that is troubling us from outside?" And the courtiers reply: "Your Majesty, it is music." And Aurangzeb's majestic response is: "Then bury it deep into the bowels of the earth."

I always thought — un-majestically, but seriously — that this should have been the fate of the Official Secrets Act, 1923, which has been so frequently misused, that it ought to have been repealed when India got independence. In fact when the Janata government which came to power at the end of the Internal Emergency, and set up what was then known (and is now forgotten) as the Second Press Commission, it was chaired by a great and good judge, Justice Goswami of the Supreme Court of India, whose common sense approach to all subjects greatly attracted me to him.

L.K. Advani, then Minister for Information and Broadcasting, requested me to be a member of the Commission, and I agreed. The Commission proceeded in great earnestness for months, and ultimately, when its report was ready in December 1979, a report that implored the government of the day to immediately repeal the Official Secrets Act, 1923, it never saw the light of day. Indira Gandhi, who came back to power in January 1980, wrote to the members a polite letter of thanks for our deliberations and promptly dissolved and disbanded the Justice Goswami Commission. It was replaced by the now officially known Second Press Commission presided over by Justice K.K. Mathew. The Goswami Commission and all its deliberations had been obliterated by a stroke of the pen. If Mrs. Gandhi had returned to power a few months later and our report had been accepted by the previous government, concerns in the context of The Hindu's exposé on the Rafale deal would probably not have arisen over what the Attorney General of India ought to have said or done or ought not to have said or done. The Official Second Press Commission (the Mathew Commission) did not recommend the repeal of the Official Secrets Act of 1923.

The press as champion

Since I still regard the press (and no longer the electronic media) as the champion of Article 19(1)(a) freedoms, I would like to say that the press must serve the governed, not those who govern. In his famous Gettysburg Address, Abraham Lincoln described good governance as "of the people, by the people and for the people". Centuries later we do understand the "of", and are willing to tolerate the "by" but unfortunately we keep forgetting the "for". If government is indeed for the people, it has a solemn obligation to keep the people well informed.

Fortunately, the modern trend in today's world is towards less secrecy and more information. The International Covenant on Civil and Political Rights (ICCPR), adopted by the General Assembly of the United Nations way back in 1966, specifically includes the right to freedom of expression, defined as "the freedom to seek, receive and impart the information and ideas of all kinds".

The Janata government signed and ratified this Covenant in 1979, but none of the later Governments has lived up to its ideals. We have enacted Article 19(1)(a) in our 1950 Constitution with extremely limited restrictions — in Article 19(2) — but again only paid lip service to freedom of speech and expression.

I am proud that The Hindu has not just preached but stuck its neck out in support of this cardinal freedom of ours. Bravo.